Sociology of Religion PART-1- Durkheim

DSE 01

SOCIOLOGY OF RELIGION

Dr. Utpal Kumar Chakraborty
Department of Sociology
ABM College, Jamshedpur

धर्म का सिद्धान्त

Theory of Religion

अपने अध्यापकीय जीवन के अन्तिम वर्षों में दुर्खीम की रुचि धर्म के अध्ययन में विकसित हो गई। इस दृष्टि से उसने रॉबर्टसन स्मिथ व इंग्लैण्ड की मानवशास्त्रीय सम्प्रदाय से सहयोग लिया। उसने आदिम धर्म पर गहनता से कार्य करके उक्त रचना लिखी जो सन् 1912 में प्रकाशित हुई थी। इस कृति में दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति पर ठोस तथ्यों के आधार पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में उसने अपने कई शोध-लेख भी प्रकाशित कराये। इसके साथ-साथ इस ग्रन्थ में उसने धर्म की उत्पत्ति के प्रचलित सिद्धांतों की कड़ी आलोचना करते हुए धर्म के स्वरूप एवं प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

श्री दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की है। अपने धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा दुर्खीम ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से सामूहिक चेतना का प्रतीक ही धर्म है। इस संबंध में श्री दुर्खीम ने समाज को 'वास्तविक देवता' की संज्ञा दी है।

धर्म के सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए दुर्खीम ने धर्म संबंधी अब तक के सभी सिद्धान्तों का खंडन किया है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्तों में धर्म की उत्पत्ति के संबंध में बताए गए कारण केवल अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि अवैज्ञानिक भी हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए दुर्खीम ने सर्वश्री आदि विद्वानों के मतों का खण्डन किया है। श्री टायलर ने धर्म की उत्पति समझाने के लिए आत्मवाद के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है।" "आत्मा की धारणा रोज के जीवन से सम्बन्धित दो प्रकार के अनुभव के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुई। वे अनुभव (अ) मृत्यु और (ब) स्वप्न थे।

प्रथम अनुभव के आधार पर शरीर आत्मा और दूसरे के आधार पर स्वतन्त्र आत्मा की धारणा उत्पन्न हुई। आत्माएँ अमर तथा मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं—इस विश्वास के कारण ही पितरों की पूजा आरम्भ हुई जोकि आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई। श्री दुर्खीम का कथन है कि इस सिद्धान्त में श्री टायलर ने आदिम मनुष्यों को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप में मान लिया है जोकि सर्वथा गलत है। इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं था, जैसाकि श्री टायलर ने कल्पना की है। दूसरे, धर्म एक इतनी सरल घटना नहीं है कि इसकी उत्पत्ति परछाई, स्वप्न, प्रतिध्वनि, मृत्यु आदि कुछ सीमित या वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर संभव है।

अनुभवों के आधार पर संभव है। उसी प्रकार श्री मैक्समूलर के धर्म संबंधी प्रकृतिवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए श्री दुर्खीम ने लिखा है कि श्री मैक्समूलर का यह विचार गलत है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों–तूफान, आँधी, बिजली का कड़कना, भूकम्प, सूर्य, चन्द्रमा आदि को देखकर आदिम मानव के मन में भय, आतंक, आश्चर्य आदि का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था और इन मानसिक भावनाओं के कारण वह प्रकृति से ऐसे डरने लगा जैसे किसी जानदार वस्तु से डरता था और इसलिए उसके प्रति उसके मन में श्रद्धा, शक्ति आदि उत्पन्न हुए, जिसके आधार पर आगे चलकर, धर्म की उत्पत्ति हुई। श्री दुर्खीम के अनुसार, प्रकृति की पूजा से धर्म उत्पत्ति की यह व्याख्या अत्यन्त संकुचित विश्लेषण उत्पन्न करती है, विशेषकर इस अर्थ में कि इस सिद्धान्त ने धर्म के केवल एक गौण पक्ष–प्राकृतिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है।

श्री दुर्खीम ने लिखा है कि श्री मैक्समूलर इस सत्य को भूल जाते हैं कि धर्म एक सामाजिक संस्था, तथ्य या घटना है और सामाजिक घटना या संस्था की उत्पत्ति में कोई भी सामाजिक कारक न हो यह असम्भव है। अत: धर्म के सामाजिक आधार की अवहेलना श्री मैक्समूलर के सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है। वास्तव में आत्मा, भूत-प्रेत, स्वप्न, छाया, प्रकृति आदि के आधार पर धर्म की समस्त व्याख्या अपर्याप्त है क्योंकि आदिवासियों के लिए प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं में अन्तर करना सम्भव नहीं; न तो उन्हें प्राकृतिक चीजों और घटनाओं के संबंध में उचित ज्ञान है और न ही वे अलौकिक घटनाओं को ठीक से समझते हैं।

श्री दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं या घटनाओं की–चाहे सरल हों या जटिल, वास्तविक हों या आदर्शात्मक–दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है–(अ) पवित्र (Sacred) और (ब) साधारण (Profane)। समस्त धर्मों का सम्बन्ध 'पवित्र' पक्ष से होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या ईश्वर होती है, यद्यपि समस्त ईश्वरीय या आध्यात्मिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ पवित्र अवश्य ही होती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि होती है। इसी कारण व्यक्ति इनके अधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के सदस्य जिन्हें पवित्र समझते हैं उन्हें पवित्र या साधारण से सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते हैं। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। चूँकि इन प्रयत्नों से संबंधित विश्वासों, आचरणों, संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नत-मस्तक होना ही पड़ता है। यहीं से धर्म की नींव पड़ती है।